# वर्णों की अर्थवत्ता का सिद्धान्त (Phonosemantics)

**श्री प्रमोद कुमार अग्रवाल,** गवेषक, Phonosemantics

**विषय परिचय**

वर्ण भाषा के मूल हैं। प्राचीनकाल से ही वर्णों की अर्थवत्ता का प्रश्न भारत के ही नहीं वरन् विश्व के अनेक विद्वानों की चर्चा का विषय रहा है। इनमें यास्क (७०० ई. पू.), मैक्समूलर, पाणिनि (४०० ई. पू.), सुकरात, प्लेटो आदि प्रमुख हैं। वर्तमान में भी अनेक दार्शनिक पक्ष-विपक्ष में अपना मत रखते रहे हैं।

गहन चिन्तन-मनन के इतिहास के बाद भी इस सिद्धान्त के विषय में विश्व में किसी सर्वमान्य सिद्धान्त का अभाव ही रहा है, किन्तु भारत में इस विषय पर सहमति ही पायी गयी है। यास्क का निरुक्त, पाणिनि का धातुकोश, एकाक्षरकोश, संस्कृत वर्णों का वैज्ञानिक विभाजन आदि अनेक प्रमाण हैं जो वर्णों के विशिष्ट अर्थों में विश्वास को दृढ़ बनाते हैं। भारत के लिये इस विषय का विशेष महत्त्व है। वेद यहां के प्रमुख व प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, जिनका अभिप्राय आज भी पूर्णत: स्पष्ट नहीं हो पाया। हम अनेक विधियों से उनकी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं और हमने बहुत कुछ सफ़लता भी पायी है। प्रस्तुत सिद्धान्त भी एक प्रयास है, जो हमारे अन्य प्रयासों का परिपूरक हो सकता है।

**वर्णों की अर्थवत्ता**

हम यह जानते हैं कि मनुष्य या पशु बातचीत के लिये विभिन्न साधनों का प्रयोग करते हैं। इनमें गंध, भाव-भंगिमा, स्पर्श व बोलना प्रमुख है। इनमें से सभी किसी न किसी मनोवैज्ञानिक अर्थ को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। यहां तक हमें किसी भाषा की आवश्यकता नहीं होती। एक ही जाति के दो पशु जो कि विभिन्न देशों के हैं, मन की भावना प्रेषित करने में सक्षम होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति ने प्रत्येक अर्थ के लिये विशिष्ट संकेत या वर्ण दिये हैं। वर्णों की अर्थवत्ता का सिद्धान्त

(Phonosemantics) विभिन्न वर्णों के अर्थों को स्पष्ट, करता है परन्तु यह स्पष्टता मनोवैज्ञानिक अर्थों तक ही सीमित होती है। एक ही मनोवैज्ञानिक भाव के अनेक व्यावहारिक अर्थ हो सकते हैं। उदाहरण के लिये 'न' का अर्थ 'नकार' है तो इसके व्यावहारिक अर्थ–शून्यता, प्राप्ति की इच्छा, प्राप्ति की योग्यता, प्राप्ति के लिये कर्म, खालीपन आदि अनेक हो सकते हैं।

**वेदों में 'वर्णों की अर्थवत्ता' का उपयोग**

हम मानते हैं कि वेद ईश्वरप्रदत्त हैं और इनमें उच्चारण की प्रमुखता है, अत: वेदों में प्रयुक्त उच्चारण का अभिप्राय भी प्रकृति द्वारा निर्धारित होना चाहिये। यदि प्रकृति ने उच्चारण का अर्थ निश्चित किया है, तो वह अर्थवत्ता के सिद्धान्त के अनुरूप ही होंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि हम अर्थवत्ता के सिद्धान्त के माध्यम से भी वेदों के अर्थ का स्पर्श कर सकते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार यदि एक ही 'वर्ण' के अनेक व्यावहारिक अर्थ हो सकते हैं, तो एक ही शब्द के अनेक अर्थ भी हो सकते हैं। यहां अनेक का अर्थ 'कोई भी' नहीं है, वरन् एक सीमा के अन्तर्गत ही है। यही कारण है कि एक ही देवता का अर्थ विभिन्न सन्दर्भों में भिन्न–भिन्न प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये यदि 'वरुण' का अर्थ 'एकत्रित करने वाला' होगा, तो 'जल' एकत्रित करने वाला 'समुद्र' होगा, 'पदार्थ' एकत्रित करने वाला 'आकाश' होगा, 'चेतना' एकत्रित करने वाला 'आदित्य' होगा, 'सूत्र' एकत्रित करने वाला 'ऋषि' होगा, तथा 'परिमाण' एकत्रित करने वाला 'असुर' होगा। इस प्रकार समुद्र, आकाश, आदित्य, ऋषि व असुर में अनेक भाव हैं, जिनमे वरुण भाव सर्वत्र उपलब्ध है जो 'एकत्रित करने' को इंगित कर रहा है।

इसी प्रकार निम्नलिखित कुछ शब्द अध्यात्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका प्रतीकार्थ हम 'वर्णों की अर्थवत्ता के सिद्धान्त' की सहायता से ज्ञात कर सकते हैं।

**व्यावहारिक उदाहरण**

१. **ब्रह्म**– ब् = अधिगृहीत कारण (आनन्द; विज्ञान; अन्न; प्राण; मन) की + र=संलिप्तता द्वारा + ह=भौतिक (गोचर) + म=उपलब्धता।

'विज्ञानरूपी कारण–ब्रह्म' से 'प्रज्ञा' का उदय होता है, 'आनन्दरूपी कारण–ब्रह्म' से 'आस्था' का उदय होता है, 'अन्नरूपी कारण–ब्रह्म' से 'विविधता' का उदय होता है, 'प्राणरूपी कारण–ब्रह्म' से 'स्पन्दन' का उदय होता है, 'मनरूपी कारण–ब्रह्म' से 'निरन्तरता' का उदय होता है। इस प्रकार अव्यय ब्रह्म के पाँच अगोचर प्रकोष्ठ प्रत्येक इकाई की पांच अविभाज्य गोचर उपाधियों को अभिव्यक्त करते हैं। जो भी अभिव्यक्ति हो रही है, उसमें प्रज्ञा, आस्था, विविधता, स्पन्दन, व निरन्तरता का संयुक्त समावेश है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ईकाई का अव्यय ब्रह्म, जो मूल (परात्पर) ब्रह्म का अंश है, अपनी संरचना के अनुरूप आत्मा को स्वीकार कर नयी ईकाई को जन्म देता है। यह नयी ईकाई माया को स्वीकार कर भौतिकदेह (अहं) का गठन करती है। इस प्रकार अव्यय ब्रह्म (अधिगृहीत कारण) आत्मा को स्वीकार कर 'अहं' बन जाता है, इसी कारण वेदान्त '**अहं ब्रह्मास्मि**' की घोषणा करता है।

२. **माया**– म=प्रस्तुत उपलब्ध +ा=सत्ता में + य =दर्शनीय +ा=सत्ता; अर्थात् प्रस्तुत उपलब्ध नाम रूपात्मक प्रतीति की व्यक्त (दर्शनीय) सत्ता।

'एक से अनेक हो जाऊँ', यह ब्रह्म का मूलभाव है। ब्रह्म एकत्व है और एकत्व में विविधता उत्पन्न नहीं हो सकती, अत: एकता में अनेकता उत्पन्न करने के लिये माया का होना आवश्यक है। अव्यय ब्रह्म अपनी नाम–रूपात्मक संरचना के आधार पर माया को स्वीकार कर अगोचर को दर्शनीय बना देता है। माया की स्वीकृति के साथ ही 'अव्यक्त अव्यय ब्रह्म' 'व्यक्ताव्यक्त अक्षर ब्रह्म' का रूप ले लेता है। जहां अव्यक्त अव्यय ईकाई की संभावनाएं है वहां व्यक्ताव्यक्त अक्षर ईकाई का स्वभाव है। यही व्यक्ताव्यक्त माया को व्यक्त कर दर्शनीय बना देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि में जो भी पदार्थ हैं, उनका कारण तो ब्रह्म है किन्तु उनकी दर्शनीयता माया है।

३. **आत्मा**–आ= सत्ता के लिये+ त् =स्वप्रस्तुत +मा=उपलब्धता; अर्थात् वह स्वप्रस्तुत संज्ञा, जो सत्ता को जन्म देने, सत्ता पर नियन्त्रण करने तथा सत्ता को संचालित करने के लिये उपलब्ध हो, आत्मा कहलाता है।

उपर्युक्त परिभाषा में 'सत्ता' शब्द स्वतन्त्र है तथा किसी भी संदर्भ में उसका प्रयोग किया जा सकता है। परिभाषा में 'उपलब्धता' भी किसी काल से बँधी हुई नहीं है, अत: आत्मा अमर है। मनुष्य अपने जीवनकाल में जो भी अच्छे या बुरे कर्म करता है, वे जीवात्मा के स्वरूप को बदल देते हैं तथा मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा (अपने नये संस्कारों के साथ) देह से स्वतंत्र होकर किसी नये देह को प्राप्त कर लेता है। इस नयी देह का चयन उन नये संस्कारों के अनुरूप ही होता है। अनेक जन्मों के बाद आत्मा की विषमताएं समाप्त हो जाती हैं और आत्मा मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। **योनिमन्ये प्रपद्यन्ते ...यथाकर्म यथा श्रुतम् – (कठोपनिषद् – २.२.७)**

४. **ईश्वर**–ई =उजागर होती हुई +श =जीवन्त अनुभूत+व=अदृश्य अस्तित्व में + र =संलिप्तता; उजागर होती हुई अदृश्य जीवन्त अनुभूत में संलिप्तता।

जो अदृश्य अस्तित्व है, वह सूक्ष्म है, ब्रह्म है तथा कारण है, अत: अगोचर है। उस 'कारण' का 'प्रभाव' जीवन्तता की अनुभूति है, जो गोचर है। 'कारण और प्रभाव' में से हम प्रभाव की अनुभूति तो

कर सकते हैं, परन्तु कारण जो कि ब्रह्म है, उसे नहीं जान सकते।

५. **अद्वैत**–अ=अभाव में द्वैत (द् = प्रस्तुत दृश्यता में +वै=अदृश्य अस्तित्व की+त=प्रस्तुति)। जहां द्वैत के लिये कोई स्थान न हो, उसे अद्वैत कहा जाता है।

द्वैतवादी जहां ब्रह्म व माया दोनों को सृष्टि का जनक मानते हैं, वहीं अद्वैतवादी माया को ब्रह्म का ही एक वितान मानते हैं। ऐसा मानने में जो भ्रम पैदा होता है वह यह है, कि ब्रह्म तो सभी पदार्थों में समान ही है, फिर पदार्थों में विविधता का क्या कारण है? हमारे अनुसार यह एक दृष्टिभ्रम है। यदि हम मूल कारण को देखेंगे तो सब में एक ही कारण अनुस्यूत प्रतीत होगा, जिसको हम ब्रह्म कहते हैं।

६. **मोक्ष**–/म=प्रस्तुत अस्वीकार्य उपलब्धता +ो = के लिये+क्ष=चेतनात्मक जीवन्तता; चेतनात्मक जीवन्तता द्वारा अस्वीकार्य उपलब्धताओं (विषमताओं) से मुक्ति।

यहां प्रश्न यह है कि आत्मा पुन: जन्म लेने के लिये क्यों उत्सुक होता है? चूँकि आत्मा में कुछ विषमताएँ होती हैं, जिनसे मुक्ति के लिये वह पुन:-पुन: असत् में प्रवेश कर संसार के रंग-मञ्च पर सत्कर्मों द्वारा उन विषमताओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है। प्रत्येक ईकाई में ब्रह्म व जीवात्मा नृत्य करते दिखाई देते हैं। नृत्य की प्रत्येक आवृत्ति में जीवात्मा विषमताओं को कम करने का प्रयत्न करती है।

'आत्मा में स्थित विषमताएँ' 'काम' को उत्पन्न करती हैं। काम का निवारण करने के लिये 'अर्थ (मात्रा; माया; आवश्यक विभिन्न अनुभूतियाँ;)' को स्वीकार किया जाता है, जो अक्षर के विभिन्न कोशों में रहता है। विभिन्न अनुभूतियों के विभिन्न 'धर्म (स्वभाव; गुण)' होते हैं। जब अनेक गुण एक ही स्थान पर 'परस्पर क्रिया' करते हैं, तो विषमता एवं अस्वीकार्यताएँ कम होती हैं और जीवात्मा 'मोक्ष' को प्राप्त करता है। जीवनपर्यन्त इस आवृत्ति की पुनरावृत्ति होती रहती है और हम मोक्ष की ओर बढ़ते रहते हैं। जितनी विषमताएँ हम कम कर लेते हैं, तदनुसार ही पुनर्जन्म में हमें श्रेष्ठतर देह की प्राप्ति होती है।